प्राकृत-जैनविद्या-ग्रन्थमाला
[षष्ठ पुष्प]

संवेग-चूड़ामणि

अनुवादक एवं सम्पादक
डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी
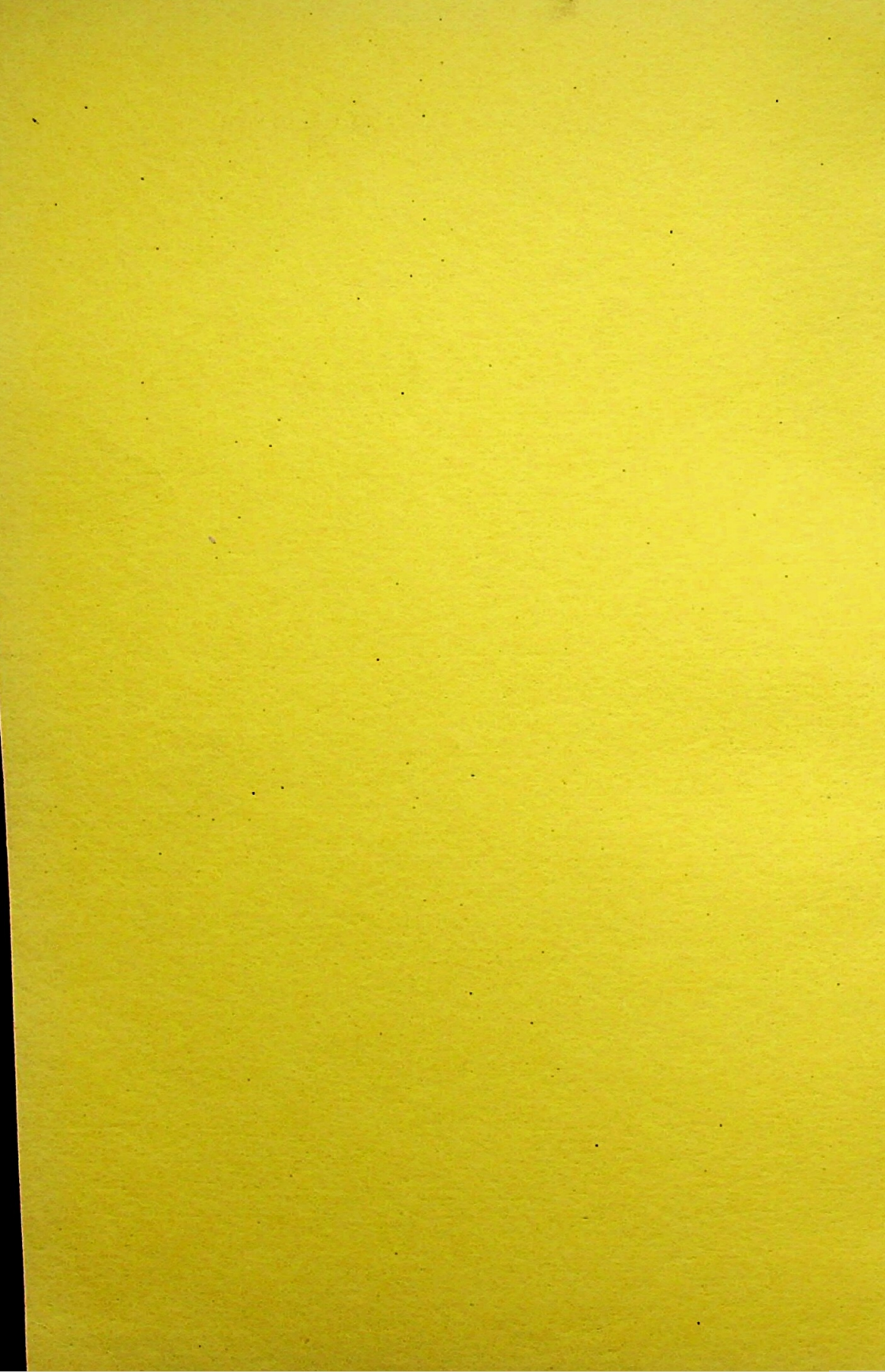
PRĀKṚTA-JAINAVIDYĀ-GRANTHAMĀLĀ
[Vol. VI]

SAṀVEGA CŪḌĀMAṆI

TRANSLATED & EDITED BY
DR. ANEKĀNTA KUMĀRA JAINA
Lecturer & Head, jainadarśana Department
Shri Lalbahadur Shastri Rashtriy Sanskrit Vidyapeeth
New Delhi

VARANASI
2005

ISBN : 81-7270-158-6

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

❐

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 16.00

❐

Printed by—
Shreejee Printers
Nati Imli. Varanasi-221001

प्राकृत-जैनविद्या-ग्रन्थमाला

[षष्ठ पुष्प]

संवेग-चूड़ामणि

अनुवादक एवं सम्पादक

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन-विभाग

श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ

नई दिल्ली

वाराणसी

२०६२ वैक्रमाब्द १९२७ शकाब्द २००५ खैस्ताब्द

ISBN : 81-7270-158-6

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक —
निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

❐

प्रकाशक —
डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी
निदेशक, प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❐

प्राप्ति-स्थान —
विक्रय-विभाग,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००२

❐

प्रथम संस्करण – ५०० प्रतियाँ

मूल्य – १६.०० रूपये

❐

मुद्रक —
श्रीजी प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी-२२१००१

भूमिका

"संवेग" जैनधर्म दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। संवेग शब्द प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं में एक जैसा ही है। एतदर्थ भाषाशास्त्रीय दृष्टि से यह 'तत्सम' कहलाता है। 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'विज्' धातु से 'संवेग' शब्द निष्पन्न होता है। सम् अर्थात् सम्यक् तथा 'विज्' धातु का प्रथम अर्थ है—'कांपना', द्वितीय अर्थ है 'दौड़ना', अर्थात् तीव्रगति करना। इन्द्रिय, मन और मति इन तीनों का वेग जब उर्ध्वमुखी हो जाता है तब वह वेग 'संवेग' कहलाता है। वैषयिक सुखों हेतु दौड़ लगाना 'अधोमुखी' वेग है।

वीतराग-सम्यग्दर्शन एवं सराग-सम्यग्दर्शन—ये सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं। इनमें आत्मविशुद्धि मात्र को वीतराग-सम्यग्दर्शन एवं प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य—इन चार गुणों की अभिव्यक्ति को सराग-सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस तरह सराग सम्यग्दर्शन के (प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य)- इन चार गुणों में संवेग का दूसरा क्रम है। संवेग से ही सम्यग्दृष्टि की पहचान होती है। संवेग का शुद्धतम फल मोक्षसुख है।

इस तरह 'संवेग' का प्रयोग उस मानसिक-भावनात्मक स्थिति के अर्थ में किया जाता है जिसका सम्बन्ध आत्मकल्याण से है।

तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कराने वाली दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओं में भी 'संवेग' भावना को पांचवां स्थान प्राप्त है—इन भावनाओं की सोलहकारणपूजा की जयमाल में कवि द्यानतराय जी ने लिखा है—

'जो संवेग भाव विस्तारें, सुरग मुकति पद आप निहारैं'

जैन शास्त्रों में संवेग प्रमुख रूप से दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

१. संसार से भय तथा २. धर्मोत्साह।

१. संवेग-संसार से भय के अर्थ में—

मनुष्य मोह के कारण इस दुःख रूपी संसार में अनादि काल से भटक रहा है। सुख-दुःख की रेलमपेल में उसे अपनी शाश्वत आत्मा की खबर तक नहीं आती। संसार के दुःखों से दुःखी रहते हुए भी जीव संसार से मोहवश न तो उससे डरता है और न उससे छूटना चाहता है। संसार में ही सुखों के

उपाय ढूंढता है। ऐसी स्थिति में स्व-पर कल्याण की भावना से हमारे मार्गदर्शक आचार्य सर्वप्रथम संसार की नश्वरता का उपदेश देकर संसार से भय उत्पन्न करवाते हैं अर्थात् संसार के प्रति आसक्ति को तुड़वाते हैं। इस प्रकार जब संसार से भय उत्पन्न हो जाता है, तब उस स्थिति को संवेग कहा जाता है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में कहा है—'संसार-दु:खान्नित्यभीरूता संवेग:'। (६/२४) अर्थात् संसार के दु:खों से नित्य डरते रहना संवेग है।

आचार्य शिवार्य कृत भगवती आराधना में भी स्पष्ट उल्लेख है—**'संविग्गो संसाराद् द्रव्यभावरूपात् परिवर्तनात् भयमुपगतः'**। अर्थात् जिसको द्रव्य और भाव रूप से पंचपरिवर्तन रूप संसार से भय उत्पन्न हुआ हो वह संवेग है।

इस प्रकार प्राकृत भाषा में निबद्ध संवेग चूड़ामणि नामक प्रस्तुत ग्रन्थ में संसारी संयोगों को दु:ख स्वरूप बतलाये हुए कहा है—

म जाणासि जीव तुम्मं पुत्तकलत्ताइं मुज्झ सुह हेउ।
दुहाइं सव्व दाऊ, संसारे संसरंत्ताणं।।१६।।

अर्थात् हे जीव! तुम यह मत जानो कि पुत्र, स्त्री, मित्र तुम्हें सुख देने वाले हैं, अपितु इन सभी को दु:खदायक और ये संसार में भ्रमण कराने वाले हैं।

इस प्रकार विविध रूपों में संसार के दु:खों और उसकी नि:सारता का वर्णन इस ग्रन्थ में किया गया है।

२. संवेग-धर्मोत्साह के अर्थ में

धर्मोत्साह के अर्थ में भी संवेग शब्द का प्रयोग किया जाता है। श्रद्धा, भक्ति, हर्ष, उन्मेष—ये सभी संवेग काल में होते हैं। अत: भावनात्मक विकास ही यहाँ पर 'संवेग' है। द्रव्यसंग्रह टीका की एक गाथा में संवेग सम्बन्धी विषय का प्रतिपादन इस प्रकार किया है—

''धम्मे य धम्मफलम्हि दंसणे य हरिसो य हुंति संवेगो''—अर्थात् धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है वह संवेग है। पंचाध्यायी में पं. राजमल्ल जी ने भी यही बात कही है—

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चित्तः।
सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु।।

वस्तुत: जीवन में धर्म ही सब कुछ है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कहा भी है—

धम्मेण वह जयइ, धम्मेण दुत्तरं नरभव उहं।

धम्मेणमणंत सुहं, लहइ जीउ सासयं ट्ठाणं ।।५२।।

अर्थात् धर्म के द्वारा जीत होती है, धर्म के द्वारा मनुष्यभव सफल होता है, धर्म के द्वारा ही अनंत सुख और शाश्वत स्थान (मोक्ष) प्राप्त होता है।

सामान्यत: सभी धर्मों में और विशेष रूप से जैनधर्म में संवेग और वैराग्य को प्रधानता दी गई है। संवेग और वैराग्य भाव न हों तो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच व्रतों के साथ ही अन्य व्रतों का पालन सम्भव नहीं है।

वस्तुत: संवेग या वैराग्य का बीज-वपन जगत् और शरीर के स्वभाव-चिन्तन से होता है, इसलिए इन दोनों के स्वभाव के सतत् चिन्तन की भावना भाते रहने हेतु आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (७/१२) में कहा है—

''जगत्कायस्वभावौ वा संवेग वैराग्यार्थम्''।

यह सत्य है कि जब-तक यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है, तब-तक वह सांसारिक दु:खों से निवृत्त नहीं होता। अत: संवेग और वैराग्य की उत्पत्ति के लिए जगत् और शरीर की नश्वरता रूप स्वभाव का वह चिन्तन करता है, तभी वह इनसे और विषय-भोगों से अनासक्त हो पाता है। जब वह जीव संवेग और वैराग्य से युक्त हो जाता है तभी उसे धर्म, दर्शन, अध्यात्म एवं तत्त्वचिन्तन के सिवाय कुछ भी अच्छा नहीं लगता। वह इच्छाओं से उत्पन्न तनावों तथा क्रोध, मान, माया और लोभ—इन कषायों के आवेगों पर नियन्त्रण और आत्मानुभूति की अवस्था का अनुभव भी करने लगता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कहा भी है—

अबणि नीव उभई, दुन्ह समागयाइं जोग मूलाणं।

पसंगोपविणट्ठो, अबोनिविस जोगिण.........।।३९।।

अर्थात् सर्वज्ञ की आज्ञानुसार संवेग को धारण किया हुआ जीव अशुभकर्मों के उदय में आने के पूर्व ही चित्तवृत्ति से उनका निरोध (नाश) करते हुए मूल व्रतों को प्राप्त करके सयोगी (तेरहवाँ गुणस्थान) को प्राप्त होने का अवसर पाता है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में कहा है—

जं कायव्वं कप्पलं रिसारव्व चेव करह तम्हा।

जीया मुहुत्तेण बहु विग्घो अवरण्ह केन पडक्खस्स ।।७।।

अर्थात् हे जीव! जो आचरणीय एवं करणीय (करने योग्य) है, उसे सारभूत की तरह तुझे शीघ्र ही स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक क्षण अनेक विघ्नों से भरा है, तब फिर अपराह्न की प्रतीक्षा किसके द्वारा अथवा किसलिए की जा रही है? आगे कहा है—

जाद वेणं गइयं बुद्धे मेणं होइ लखा सणंछे।

जं भाव हु णया जीया, परलोयम्मि सुहं होई ।।२९।।

अर्थात् जो जन्म को जान लेता है, वह बुद्धिमान लक्ष्य से युक्त होकर ज्ञान प्राप्त कर लेता है, शुद्ध (ज्ञानमय) भावों से युक्त होने पर ही जीव परलोक में सुख प्राप्त कर लेता है।

इस तरह प्रस्तुत ग्रन्थ लघु होते हुए भी अध्यात्म, तत्त्वज्ञान एवं इन गुणों से युक्त जीवन के प्रेरक नीति पूर्ण वाक्यों से भरपूर है। इस दृष्टि से मात्र ५२ प्राकृत गाथाओं वाला यह लघुग्रन्थ 'गागर में सागर' की उक्ति को चरितार्थ करता है। इसकी भाषा मिश्र प्राकृत जैसी है। इसमें जहाँ शौरसेनी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री प्राकृतों के लक्षण समाहित हैं, वहीं अपभ्रंश भाषा के लक्षण और प्रयोग भी मिल जाते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ की मूल हस्तलिखित प्रति इतनी अस्पष्ट, कठिन और जटिल है कि इसे प्रस्तुत प्रकाशित प्रस्तुत रूप में लाने में अनेक विद्वानों का सहयोग तो लेना ही पड़ा साथ ही अनुवाद आदि में बार-बार संसोधन होने के कारण भी इसकी अनेक बार साफ प्रतिलिपियाँ करनी पड़ी। इसलिए काफी लम्बा समय भी लग गया।

इस कार्य में सर्वप्रथम मेरी विदुषी माँ **श्रीमती डॉ. मुन्नीपुष्पा जैन** जब पार्श्वनाथ विद्यापीठ में सेवारत थी तब वहाँ के निदेशक प्रो. सागरमल जी जैन की प्रेरणा से उन्होंने वहाँ की इस ग्रन्थ की मूल हस्तलिखित प्रति से प्रतिलिपि की। किन्तु उन्हें और हमें इससे संतोष नहीं हुआ, तब सूचना मिलने पर पूना के भण्डारकर शोध संस्थान से इसकी अन्य प्रति की जीराक्स प्रति मंगाई। दोनों प्रतियों के आधार पर फिर से पाठ-भेद आदि का मिलान करते हुए इसकी कई बार सुवाच्य प्रति लिखीं। धीरे-धीरे प्रत्येक गाथा का हिन्दी अनुवाद किया। किन्तु कई गाथायें और उसके शब्द इतने अस्पष्ट होने से कठिन थे कि उन शब्दों और गाथाओं का वाचन भी एक चुनौतीपूर्ण जैसा कार्य था। किन्तु अपनी माँ, पिताजी तथा अनेक विद्वानों के सहयोग से पूरा किया गया। अनुवाद करते समय कई विद्वानों को उन गाथाओं का अनुवाद दिखाया, सबके परामर्श के

अनुसार उनमें सुधार भी करते गये। मागदर्शक इन विद्वानों में प्रमुख हैं— प्रो. सागरमल जी जैन, कर्नाटक के वयोवृद्ध अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों के ज्ञाता पं. अनंत जोशी शास्त्री जी, प्रो. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर, मेरे पूज्य पिता डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी एवं मेरी विदुषी माँ श्रीमती डॉ. मुन्नीपुष्पा जैन।

मेरे गुरुकल्प आदरणीय प्रो. ब्रह्मदेवनारायण शर्मा जी के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना पुनीत कर्त्तव्य है, क्योंकि उन्होंने इसे प्रकाशित करने हेतु प्रोत्साहित किया। अन्यथा न मालूम कब तक इसे प्रकाशित रूप में देखने की प्रतीक्षा करनी पड़ती। अत: इन सभी पूज्य गुरुजनों के प्रति प्रस्तुत ग्रन्थ के उद्धारकार्य स्वरूप सम्पादन और अनुवाद कार्य में जो उन्होंने अमूल्य सहयोग प्रदान करके एक अद्यावधि अप्रकाशित दुर्लभ ग्रन्त उद्धारकर्म तथा प्राकृत साहित्य के भण्डार की समृद्धि में इस ग्रन्थ के माध्यम से जो सहयोग दिया, उन सबके प्रति मैं धन्यवाद देकर उस आत्मीयता और स्नेह पूर्ण सहयोग एवं मार्गदर्शन का मूल्य कम नहीं करना चाहता, क्योंकि इन्हीं सबके उत्साह पूर्ण शुभाशीष से निरन्तर जिनवाणी-सेवा की प्रबल भावना बलवती हुई है।

विनम्र अनुरोध—इस तरह विशाल प्राकृत साहित्य में अद्यावधि अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण प्रस्तुत ग्रन्थ का अब नाम और स्थान प्राप्ति अपने-आप में बहुत महत्त्व रखता है। यद्यपि इस ग्रन्थ के मूल लेखक और लेखन काल आदि का उल्लेख नहीं दिया गया। अत: इसे अज्ञातकर्तृक माना गया है। फिर भी इसकी भाषा-शैली आदि की दृष्टि से यह दसवीं शती के आसपास की कृति लगती है। पूना से प्राप्त प्रति की अन्तिम प्रशस्ति में कुछ नामोल्लेख और समय का उल्लेख है; किन्तु वे लिपिकारों या लिपिकाल आदि के उल्लेख हैं, ग्रन्थ के मूल लेखक का नाम स्पष्ट नहीं हो सका। साथ ही यहाँ यह भी स्पष्टीकरण आवश्यक है कि इन गाथाओं आदि का अनुवाद अन्तिम नहीं है, और न मुझे ही इससे पूर्ण सन्तोष है। यह तो आरम्भिक प्रयास मात्र है। ४६ वीं गाथा तो इतनी अस्पष्ट है कि उसका अनुवाद करना सम्भव नहीं हुआ। अत: विद्वानों से विनम्र निवेदन है कि गाथाओं, अनुवाद आदि में जो त्रुटियाँ, कमियाँ आदि प्रतीत हों उन्हें सुधारकर तो पढ़ें ही, साथ ही मुझे सूचित करने की कृपा करेंगे, ताकि अगले संस्करण में संशोधन कर सकूँ।

हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का परिचय—

प्रस्तुत हस्तलिखित लघुग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय संवेग अर्थात् वैराग्य है। जिसका विवेचन 'संवेगचूड़ामणि' नामक इस कृति की ५२ गाथाओं में किया गया है, जो प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसका सम्पादन और अनुवाद कार्य दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की हस्तलिखित प्राचीन **प्रथम पाण्डुलिपि** पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी के ग्रन्थालय में संग्रहीत है। इसमें मात्र २ पत्र (४ पृष्ठ) हैं जिनके दोनों ओर लिखा गया है। पत्र के दोनों तरफ घने और छोटी लिखावट में लिखा गया है। पत्र की लम्बाई १३ इंच, चौड़ाई ६ इंच है। दोनों ओर हाशिये पर ऊपर 'संवेगचूड़ामणि' यह नाम प्रत्येक पत्र में लिखा है। प्रत्येक पत्र के दोनों ओर ९-९ पंक्तियाँ हैं। जिनमें गाथाये लगातार मिली हुईं लिखीं गई हैं। कतिपय गाथाओं की पंक्ति के ऊपर विशेष शब्दों के पुरानीगुजराती भाषा में टिप्पण दिये गये हैं, जिनके कारण हिन्दी अनुवाद में भी सहयोग मिला। गाथाओं के क्रमांक अंकों में दिये गये हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६६ से ७२ अक्षर तक लिखे गये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का शुभारम्भ "अथश्री संवेगचूड़ामणि लिख्यते: से किया गया है। ग्रन्थ की समाप्ति इस तरह की गई है—"इति श्री श्रीसंवेगचूड़ामणिप्रकर्णः सम्पूर्णाः लिख्यत्ते जेठ्ठमल त्रिकुटपुरनगरे"। इसमें कोई प्रशस्ति या संवत् आदि के रूप में लेखनकाल आदि का कोई उल्लेख नहीं किया गया। 'जेठ्ठमल' नाम रचनाकार न होकर लिपिकार का भी हो सकता है। दूसरी प्रति में संवत् का उल्लेख है।

दूसरी प्रति का परिचय—इस लघु ग्रन्थ की दूसरी प्रति की जीराक्स कापी भण्डारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना से प्राप्त हुई थी। इसकी लम्बाई-११ १/२ इंच, चौड़ाई-८ १/२ इंच है। यह तीन पत्रों का अर्थात् ६ पृष्ठों में है। पत्र के दोनों तरफ लिखा गया है। पहले पत्र में ६ लाइनें हैं बादके पत्रों में ८-८ लाइनें हैं। कोई टिप्पण आदि नहीं है, अक्षर बहुत ही सूक्ष्मता से लिखे गये हैं। प्रत्येक लाइन में ६४-६८ अक्षर हैं, जिनसे लगभग १४-१७ शब्द होते हैं।

अन्त में समाप्ति सूचना इस प्रकार है—**इति श्री संवेगचूड़ामणि प्रकरण सम्पूर्ण लिख्यत तत सीष पुजलालजी पंचानुज भुवाणीदास भीसराय प्रहलादपुर सहाय उपगारसां तत प्रकरण लीखन्ति विगतत्र संवत् १८५० वर्षे आषाढ़ माशे कृष्णपक्ष तिथि चौथ अयतवार (रविवार) लिखंत।**

●

संवेग चूड़ामणि

[प्राकृतभाषा में निबद्ध दुर्लभ लघुग्रन्थ]

सम्पादन एवं अनुवाद

डॉ. अनेकान्तकुमार जैन

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, जैनदर्शन-विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

नई दिल्ली

अथ श्री संवेग चूड़ामणि लिख्यते—

नमिऊण तित्थनाहं भगवओ वड्ढमाणं जिण-वसहं।
संवेगस्स सरूवाणं वोच्छामि गुरुवएसेणं।।१।।

तीर्थनाथ (तीर्थंकर) जिनवर वृषभ (प्रथम तीर्थंकर) एवं भगवान् वर्धमान (अन्तिम एवं चौबीसवें तीर्थंकर) को नमस्कार कर संवेग (संसार से वैराग्य) के स्वरूप को गुरु के उपदेश के अनुसार कहता हूँ।।१।।

संसारे नत्थि सुहं, जाइ-जरा-मरण-रोग-सोगेहिं।
जीवो पमाय ललीउं, न कुणइ जिणदेसियं धम्मं।।२।।

इस संसार में जन्म, जरा (बुढ़ापा), मृत्यु, रोग, शोक इत्यादि की उपस्थिति के कारण सुख नहीं है। फिर भी यह जीव (मनुष्य) प्रमाद एवं आसक्ति (मोह) के वशीभूत होकर जिनेन्द्र भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म का आचरण नहीं करता है।।२।।

रे जीव! सुहप्पसुत्तो, हारीय चिंतामणि सरिच्छं मणुयत्तं।
तह करि जिणवर धम्मं, जह पावइ अयरामरं ठाणं।।३।।

हे जीव! विषय सुख में आसक्त, प्रमत्त होकर चिंतामणि रत्न के समान (सदृश) मानव जीवन (मनुष्यत्व) को क्यों नष्ट कर रहा है? उस जिन-प्रणीत धर्म को धारण करो, जिससे शाश्वत सुख रूप अजर-अमर स्थान अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो।।३।।

सुदरं ससियरधम्मं, सुंदरधम्माइं विउलं सरीयाइं।
सिरी यं सुहागा होइ[1], न मुच्चइ सरीस दुहग्गं।।४।।

चन्द्रमा के समान शीतल/शान्ति प्रदाता धर्म सुन्दर है। इस सुन्दर धर्म से ही शरीर आदि रूप विपुल श्री/सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। सम्पत्ति से सौभाग्य होता है। किन्तु इस सम्पत्ति/लक्ष्मी से दुर्भाग्य दूर नहीं किया जा सकता।।४।।

गयकन्न-चञ्चला उ लच्छिं च होइ सुवण-सारिच्छं।
कुसंचयत्तो य पणय, बायरिय कडयस्स थोवेणं।।५।।

लक्ष्मी हाथी के कान के सदृश चञ्चल होती है और यह लक्ष्मी स्वप्न के समान होती है। जो येन-केन-प्रकारेण इसके सञ्चय में लगा रहता है या इनके प्रति थोड़ा भी आसक्त रहता है, वह उस अल्पतम आसक्ति के द्वारा भी अधिक पाप का भागी होता है।।५।।

जे कल्लेण य अज्झप्परं, पुरिसा चिंतंति अत्थी अरं लच्छी।
गलयत्तमाऊरयण, मूढा आयाण न घिप्पंति।।६।।

जो पुरुष स्थिर न रहने वाली इस चंचल लक्ष्मी का कल्याण और आध्यात्म प्राप्ति की भावना से चिन्तन करते हैं, वह चिन्तन आयुरत्न को नष्ट करने वाला है। ऐसे मूढ़ पुरुष आत्मा को प्राप्त करने के लिए समर्थ नहीं होते है।।६।।

जं कायव्वं कप्पलं रिसारव्व चेव करह तम्हा।
जीया मुहुत्तेण बहु विग्घो, अवरण्ह केन पडक्खस्स।।७।।

हे जीव! जो आचरणीय एवं करणीय (करने योग्य) है, उसे सारभूत की तरह तुझे शीघ्र ही (शिरोधार्य) कर लेना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक क्षण अनेक विघ्नों से भरा होता है तव फिर अपराह्न की प्रतीक्षा किसके द्वारा अथवा किसलिए की गयी है?।।७।।

ही संसार सुहाणं, नटवरीआण अब्भ-सारिच्छं।
अहवा दिने हरत्ता, गयंपि कालं न याणंति।।८।।

धिक्! इस संसार का स्वभाव तो नर्तकी और बादल के समान है। क्योंकि इस संसार के लोग दिनों/जीवनरूपी आयु को हरण कर व्यतीत हुए काल को नहीं जानते हैं।।८।।

---

१. मूलपाठ में (दोनों प्रतियों में) 'होइ' नहीं है।

विशेष—जैसे नर्तकी जिस धन का अपहरण करती है उसे वापिस नहीं लौटाती, उसी तरह यह संसार जिन दिनों (जीवन/आयु) का हरण कर लेता है उसे वापिस नहीं लौटाता है। अथवा जैसे गये हुए बादल पुनः वापिस नहीं लौटते हैं, वैसे ही संसार में व्यतीत हुआ काल (समय) वापिस नहीं आता।

चेत्तसु य आण मूढा, धम्म-रयणाइं सव्व कज्जाइं।
तं तह करेह तुरीयं, जह मुच्चसि सव्व दुक्खाणं।।९।।

हे मूर्ख जन! (धर्म की) आज्ञा में चेत जाओ (सजग होओ)! धर्मरत्न के द्वारा ही सारे कार्य सिद्ध होते हैं। अतः तुम शीघ्र ही उस धर्म का उस प्रकार से आचरण करो, जिससे सब दुःखों से तुम्हें छुटकारा मिले।।९।।

सा कलीयम्मि नत्थि कला, सा कलियम्मि नत्थि तं ओसहा।
सा कलीय नत्थि विण्णाणु, खजीयंति काल-भूयं गाणं।।१०।।

संसार में ऐसी कोई कला नहीं, संसार में ऐसी कोई औषधि नहीं और संसार में ऐसा कोई विज्ञान नहीं, जो काल रूपी सूर्य के द्वारा भक्षण नहीं किया जाता हो।।१०।।

बाया-सरूवे कालिं, जह भूय-गहीयाण जीयाणं।
तह सुह मुणएं विराओ, थोवं सुक्खाण कज्जेण।।११।।

जिस प्रकार जीव को स्थूल रूप शरीर पञ्चभूत तत्त्वों के संयोग से प्राप्त है, (अर्थात् इसके बिना शरीर सम्भव नहीं) उसी तरह पूर्ण वैराग्य को सुखमय जानो। इसलिए थोड़े (अल्प) सांसारिक सुख से क्या प्रयोजन?।।११।।

कालंमि अणाइए, होदु भमिउं य कम्मवसगाणं।
तुह न वि कोइ सरणो प्पावी जीवान बुज्झंति।।१२।।

अनादिकाल से कर्मों के वशीभूत जीवों का संसार में भ्रमण निरन्तर होता रहता है, अतः हे जीव! तेरा कोई भी शरण देने वाला नहीं है इस यथार्थता को तू समझ।।१२।।

बंधव पीयाण सव्वे, सव्वे सुहाण सेसणाए ए।
जह विय चेइसि जीया, अन्ने सेवत्ति कम्मणा।।१३।।

सभी बान्धवजन प्रीतियुक्त हों, सभी सुखी हों—यह सब सुखों की एषणायें (इच्छायें) हैं। इसलिए हे जीव! जागृत (सजग) होओ; क्योंकि अन्य सभी जीव अपने कर्मों से सेवित होते हैं।।१३।।

विहिडंत्ते विय सुया, विहिडिंते कामाण बंधवा लच्छि।
जह वर सुंदर धम्मो, सभू सयलाण आहारो।।१४।।

बान्धवो? कामभोग एवं लक्ष्मी के नष्ट हो जाने पर पुत्र आदि भी अलग हो जाते हैं। तब फिर इस सुन्दर धर्म को ही वरण (धारण) करना चाहिए; क्योंकि वही सब का आधार है।।१४।।

मा बुज्झसि जीव तुम्मं जिणवयणं अमियंप्पि नाऊणं।
चउगई विडंब-करणं, पियंति विसया सव्व घोरं।।१५।।

रे जीव! जिन वचनों को अमृत के समान जानकर तुम नहीं समझते हो जबकि सभी प्रकार के विषय-भोग आदि सभी सम्यक् आचरण को नष्ट कर देते हैं और (जिसके कारण प्राप्त होने वाली) चारों गतियाँ अत्यन्त दुःख देने वालीं हैं।।१५।।

म जाणसि जीव तुम्मं, पुत्तकलत्ताइं मुज्झ सुह हेउ।
दुहाइं सव्व दाऊ, संसारे संसरंत्ताणं।।१६।।

हे जीव! तुम यह मत जानो कि पुत्र, स्त्री, मित्र, सब मुझे सुख देने वाले हैं, (अपितु) ये सभी प्रकार से दुःख देने वाले और संसार में भ्रमण कराने वाले हैं।।१६।।

जणणिणा होइ कलित्ता, कलित्ता तह चेव होइ जणणि य।
पुत्तो य होइ पिया, पिया तह चेव पुत्ता य।।१७।।

माता मरकर पत्नी हो सकती है, उसी प्रकार ही पत्नी मरकर मेरी माता हो सकती है। उसी तरह पुत्र मरकर पिता हो सकता है, पिता मरकर पुत्र हो सकता है।।१७।।

संसार-समुद्दाणं कंचि य, वोच्छामि न उ णट्ठ बुद्धाणं।
जह सुग रसट्ठाण अंते, निस्साम्मिया मे य सरूवाणं।।१८।।

संसार-समुद्र के स्वरूप को जानने वाले एवं शुक (तोता) की तरह रस को स्थान देने वाले ज्ञानीजनों के अर्थ (प्रयोजन) को जानकर, जो मैं कहता हूँ, उसको ग्रहण किया (सुना) जाए।।१८।।

संसार भय-उवग्गा, जम्मण-मरणाण-करण गम्भीरा।
दुक्ख-णक्खूभिय णउरा, सीलसमुद्दाण चिट्ठंते।।१९।।

संसार के भय से उद्विग्न, जन्म-मरण के कारणों से गम्भीर एवं दुःख (के पक्ष) से प्रक्षोभित चतुर व्यक्ति शीलसमुद्र में स्थित रहते हैं।।१९।।

संजोग-विजोगाणं-वीची चेत्ताण य संग-वित्थारो।
बह-बंध-महल-विउला कलोल-कलुणाण वलावय लोभो।।२०।।

संजोग-वियोग की तरंगों से मुक्त नहीं होने वालों के लिए और वध-बन्धन की विपुल तरंगों में फँसे कारुणिक (बेचारे) व्यक्तियों के लिए लोभ परिग्रह को बढ़ाने वाला होता है। अर्थात् संयोग-वियोग तथा वध-बन्धन की पीड़ायें जानने पर भी करुणा का पात्र व्यक्ति लोभ को नहीं छोड़ पाता और इसी लोभ के वशीभूत हो वह परिग्रह बढ़ाता रहता है।।२०।।

कल कलंत बोल बहुलं अविमाण फीणपरिकसणा तिय।
पुल पुलत्त पचरोगा वेयण विणना य परिभवं फरूसं।।२१।।

विशेष—यह गाथा अस्पष्ट होने से इसका अर्थ करना सम्भव नहीं हो सका।

कसाय-पायाला संकुलं वा, भव-मयल रवहा संचियं कम्मं।
अपरिमिय महद्दतन्हा भमंति चव गई अउबिंमि।।२२।।

यद्यपि यह जीव कषायरूपी पंक (कीचड़) से व्याप्त होकर संचित कर्मों के कारण एवं संसार की मलिनता के कारण क्षुभित रहता है। फिर भी अपरिमित तृष्णा के वशीभूत होकर (यह जीव) कर्मों को संचितकर चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ अपनी आयु यों ही (व्यर्थ) गँवा देता है।।२२।।

दुक्ख सय-सय पलित्ता, अण हीडंति सिढ-भावेणं।
कम्मेण वराई दुक्खा अणहा पावंति जीवाणं।।२३।।

सैकड़ों दुःखों से जलते हुए ये जीव शिथिल भावों के द्वारा इस संसार में विचरण करते रहते हैं तथा अपने कर्मों के द्वारा (वशीभूत) बेचारे अनन्त दुःख को प्राप्त होते हैं।।२३।।

नेरइय ताण मुव-गयाइं, जीवा पावंति दुक्खाणं ताणं।
छेयण-भेयण बहुसु, तिव्व दुक्खीणं वेयंति।।२४।।

नरक गति से त्राण (छुटकारा) पाने के इच्छुक जीव दुःखों से त्राण पा जाते हैं, अन्यथा उन नरकों में छेदन-भेदन रूप बहुत से तीव्र दुःखों को भोगते रहते हैं।।२४।।

तरिय-णुमुवगयाइं, परियट्टणा रहिट्ट-सारिच्छं।
तिरिया हु दुक्ख लब्धा पावंति कम्माणु भारवणं।।२५।।

तिर्यंचगति को प्राप्त जीव अरहट (रहट) के सदृश भ्रमण करते रहते है। ऐसे तिर्यंच के दु:खों को प्राप्तकर (ज्ञानी जीव) कर्मों के भार को क्रमश: कम करते हैं।।२५।।

मणुअ त्तणुमुवगयाणं, एगे दीसंति दालीयं दुहग्गं।
भमंति कम्म-ललिया, जीवो को तुम्मं सरणंसि।।२६।।

मानव तन को प्राप्त जीवों में से कतिपय जीव दारिद्र और दुर्भाग्य से युक्त देखे जाते हैं। अत: जीव कर्मों के वशीभूत हो भ्रमण करते हैं। तब हे जीव! तेरा शरण देने वाला कौन है?।।२६।।

नियोय मज्झे जीवो, वसीउ पुग्गलत्तणं त्तेहिं।
वित्ति चउरो गई पत्तो, दुल्लह च मणुयत्तं।।२७।।

यह जीव निगोद के मध्य पौद्गलिकत्व के रूप में (अनन्तानन्त काल से) रह रहा है। वहाँ से निकलकर चारों गतियों में भ्रमण करता हुआ जीव मनुष्यत्व को बड़ी दुर्लभता से प्राप्त करता है।।२७।।

लद्धूणा जीवो मणुयत्तणंमि, जह पामाई विसएण गिद्धो।
तओय अप्पा अहीया ण जीय, न त्तझ धम्मम करेसि केंवि।।२८।।

(दुर्लभ) मनुष्यत्व को प्राप्त करके भी जब (जिस तरह) यह जीव विषय वासनाओं में आसक्त (गिद्ध) होकर प्रमादी हो जाता है, तब यह जीव अपनी आत्मा को न जानकर धर्म का पालन कभी भी नहीं करता।।२८।।

जाद वेणं गइयं वुद्धे मेणं होइ लखा सणंछे।
जं भाव हु णया जीया, परलोयंमि सुहं होई।।२९।।

जो जन्म को जान लेता है वह बुद्धिमान लक्ष्य से युक्त होकर ज्ञान प्राप्त कर लेता है, शुद्ध (ज्ञानमय) भावों से युक्त होने पर ही जीव परलोक में सुख प्राप्त कर लेता है।।२९।।

दीहा ण जंति घडीया, न वि यंति मुद्धाण सुद्ध-जायणता।
धम्मे उज्झम्मेणं, कुणह भवीयाण-जियाणं।।३०।।

मात्र याचना करने वाले मूर्खों की ही घड़ियाँ (आयु) नहीं व्यतीत होतीं, अपितु शुद्ध ज्ञानवान् (भव्य जीव) की भी घड़ियाँ (आयु) व्यतीत होती हैं। (अर्थात् आयु दोनों की व्यतीत होती है) फिर भी भव्य जीव धर्म में उद्यम करते हुए हुए जीवन व्यतीत करते हैं।।३०।।

निरुद्ध जीया नरयंतिदारं, पणिट्ठ रोगाय जराय गच्चु।
रुद्धयं तरिय-मणंत दुक्खं, धम्म सम्मग्गी सुहगं पसुत्तं।।३१।।

यह जीव नरकगति को निरुद्धकर (रोककर) रोग, बुढ़ापा और मृत्यु को नष्ट कर लेता है तथा तिर्यंचगति के अनन्त दुःखों को रोककर यह जीव धर्म के द्वारा चारों ओर से सच्चे सुख (शुभगता) को प्राप्त होता है।।३१।।

अहियं अन्नो न कुणइ अप्पा हियं पि करेइ न दु अन्नो।
सुह-दुहाण अप्प कथं, अणुह जीव किं दी णाणं।।३२।।

कोई दूसरा व्यक्ति आत्मा का अहित नहीं करता और न ही कोई अन्य आत्मा का हित करता है। सुख और दुख सब आत्मकृत ही हैं। अतः हे जीव! क्यों ज्ञान को प्राप्त नहीं करता?।।३२।।

देवमुसियं पत्ती, सराग तव संजमाणं जीयाणं।
अकाम निमारण य, तह संजमा-संजमेण जोगाणं।।३३।।

जिस तरह सराग अर्थात् राग सहित संयम को प्राप्त हुए जीवों के लिए देवत्व प्राप्त हो सकता है, उसी तरह संयम-असंयम (एकदेश संयम के पालन) के योग वाले जीवों को अकाम निर्जरा प्राप्त होती है।।३३।।

विशेष—इस गाथा में जैन परम्परा के कुछ पारिभाषिक शब्द आये हैं। उनका तात्पर्य इस प्रकार है—यहाँ 'सराग' का अर्थ है—जो संसार के कारणों के त्याग के प्रति उत्सुक है; परन्तु मन में राग के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं। 'संयम' का अर्थ हैं—प्राणी और इन्द्रियों के विषय में अशुभ प्रवृत्ति का त्याग। इस तरह रागी जीव का संयम या रागसहित संयम सरागसंयम है। तथा संयम-असंयम का अर्थ है त्रस हिंसा का त्याग करना और स्थावर हिंसा का त्याग न करना। इसे ही देशव्रत या श्रावक व्रत कहते हैं। यहाँ अकाम निर्जरा का अर्थ है—बिना इच्छा से कर्मों की निर्जरा होना। अर्थात् पराधीनतावश कैदखाने आदि में इच्छा न होते हुए भी भूख, प्यास आदि के कष्ट को शान्तिपूर्वक सहन करना अकाम निर्जरा है। तत्त्वार्थसूत्र (६/२०) में सरागसंयम, संयमासंयम, अकामनिर्जरा और बालतप—इन चारों को तथा सम्यक्त्व को देवायु के आश्रव के कारण माना गया है अर्थात् इन पाँच कारणों से देवायु प्राप्त होती है।

जिणवर-आणा-रहियं, जह कोई करई जियाउ धम्माणं।
तह सव्वेण दुहि दाऊ, जं माजल मुणी णाय गंत्तब्बा।।३४।।

जिनवर की आज्ञा रहित होकर जैसे कोई जित आयु-धर्म के लिए प्रयत्न करता है तो वह सब प्रकार से दुख देने वाला होता है। अतः मुनियों के पास धर्म आदि की कथा (सुनने) के लिए जाना चाहिए।।३४।।

आणाइ होई तवो, आणाय होई तह संजमो दाणो।
आणा-सहिओ धम्मो, सिव-फलपाइगो इमो।।३५।।

जिनदेव की आज्ञानुसार तप होता है, जिनेन्द्र की आज्ञानुसार संयम और दान होता है। उन्हीं की आज्ञा सहित यह शिव (मोक्ष) फल देने वाला धर्म है।।३५।।

विशेष—यहाँ जिनेन्द्र की आज्ञा से तात्पर्य उनके द्वारा प्रतिपादित तप, संयम, दान, धर्म आदि के अनुसार आचरण करना है।

आहरण सील कुलं, सील रूवाण उत्तमं होई।
सीलं वीय-पडिबहा, सील निरोवमं धम्मं।।३६।।

शील कुल का आभूषण है, शील सब रूपों (सुन्दरता) में उत्तम होता है। दृढ़शील (सम्यक्त्व का) मूल बीज है। शील ही निरुपम धर्म है।।३६।।

बाहि ण होई मच्चु, दारिद्दं तह संगमो वरं दासो।
अवरं आरम्भ वासो य, मा कुमित्ता ण संगमो।।३७।।

दरिद्रता के समान न तो कोई व्याधि है और न कोई दुःख। इसमें मुक्त होने के लिए सज्जनों का सत्संग ही नहीं अपितु उनकी दासता (सेवा) भी श्रेष्ठ है। अतः चाहे अरण्यवास भले ही करना पड़े किन्तु कुमित्र की संगति कभी न करें।।३७।।

अग्गे यत्थो होई गुरुणा कुसील य चारणे वढइ।
निच्चत्तं गुरुणो बोसिं रीज्जा, संगंति विहेण भावेन।।३८।।

अयोग्य गुरु की संगति से कुशील आचरण में वृद्धि होती है, अतः ऐसे गुरु की संगति निश्चित ही विधि और भाव से छोड़ देनी चाहिए।।३८।।

अबणि नीव उभई, दुन्ह समागयाइं जोग मूलाणं।
पसंगोपविणद्धो, अबोनिवि सजोगिण..............।।३९।।

(सर्वज्ञ की आज्ञानुसार संवेग को धारण किया हुआ) जीव, अशुभकर्मों के उदय में आने के पूर्व ही चित्तवृत्ति (योग) से उनका निरोध या नाश करते हुए मूल व्रतों (मुख्य धर्म) को प्राप्त करता हुआ, सयोगी (तेरहवाँ गुणस्थान) को प्राप्त होने का अवसर प्राप्त कर लेता है।।३९।।

उति मा जरा संससि, कुगह भवीयाण भाव सो निच्चं।
जह वंदण सया जोगे, नियकद्वं पि नंदणं कुणई।।४०।।

जो भव्य जीव निश्चय ही बुढ़ापा से अंशयुक्त भी भय नहीं करते (शुद्धभावपूर्वक, बिना प्रमाद के जीवन व्यतीत करते हैं) वे सब वन्दना के योग्य हैं। वे निज में रमते हुए आनन्द को प्राप्त होते हैं।।४०।।

सारंभे जे कुणई, जीवा पावंति तिव्व दुक्खाणं।
तं पुण मिच्छत्तत्थोवं न लहइ जीवा जिण दव्वं।।४१।।

जो जीव प्रमादवश प्राणियों की हिंसा करते हैं और जब वे ही पुन: स्तोक (थोड़ा) भी मिथ्यात्व को करते हैं, वे जीव तीव्र दु:खों को प्राप्त करते हैं, ऐसे जीव जिनवर जीवादि द्रव्यों के स्वरूप के ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते।।४१।।

न कीयाण अप्प (हेउं) न कीयाण कया वि न हुंति गुरुणो।
नव-आसवेणं बद्धा, मोआयाणं मूढा न बुज्झंति।।४२।।

न कभी आत्महित के लिए किया, न कभी भी गुरु के लिए किया—ऐसे नव आस्रवों से बँधे हुए मूढ व्यक्ति मुक्ति के लिए कभी प्रतिबोधित नहीं होते हैं।।४२।।

मारंभ सयाई जीवो, करई बहवे कारणे मूढो।
इक न कुणई धम्मं, जेण वलाई ण रद्धीउ होई।।४३।।

जीव आरम्भ (हिंसक) आदि क्रियाओं से युक्त होकर जीवों का वध करने से मूढ़ (मूर्ख) मति हो जाता है। अत: धर्म भी नहीं करता, इसलिए (उसे) ऋद्धियाँ प्राप्त नहीं होती।।४३।।

धी-धी नराण जीयं, अत्थिर वहवं चतीउ निच्चं।
दाइण राया वारा, मग्गी भय स लखाण।।४४।।

जीव के मनुष्य जन्म को धिक्कार है-२, जो चञ्चल लक्ष्मी की चिन्ता करता है, (अर्थात् वह किसी के पास स्थिर नहीं रहती) चोर तथा अग्नि से नष्ट हो जाने के कारण राजा को भी दु:ख का भाजन बनना पड़ता है।।४४।।

इसावाह व सिरूवो, मूढं आयाणाण गिद्धीउ निच्चं।
इह लोय दाउ दूह, परलोए अग्ग लस्स भूयाणं।।४५।।

व्याधि रूप इस लक्ष्मी के प्रति अज्ञानी जनों की आसक्ति नित्य बढ़ती ही रहती है। यह आसक्ति इस लोक में दु:खदायी तो है ही, परलोक (मोक्ष)

के लिए तो यह अर्गला के समान होती है। अर्थात् लक्ष्मी के प्रति आसक्ति रखने वाले जीव का मोक्षमार्ग बन्द हो जाता है।।४५।।

धणेण अगेणे जिय, सुह खोमायं जिया एसभा।
अइसा विउलं भोय, सुद्ध अणु ठाण पावाणं।।४६।।

विशेष—प्रस्तुत गाथा अस्पष्ट होने से इसका अर्थ करना सम्भव नहीं हुआ।

नीवेण महीयभूयं, सिवी जई पय सयल रकाणं।
न बंडइ सएरूवं, गंट्ठी य जियाण तहा नेयं।।४७।।

पृथ्वी पर रहने वाले सम्पूर्ण वनस्पति एवं प्राणी जगत् की रक्षा करने वाला धर्म ही जय (जीत) प्रदान करता है, जो जीव शास्त्रों के इस सार को नहीं जानते वे अपने स्वरूप की ओर नहीं बढ़ते।।४७।।

उदमो य पिय कलबं, कुडु सुरा य वेस परत्थिया।
आहाराउ वद्ध निद्धा, सेवमाणाइं वट्टंते।।४८।।

जल के सेवन से (धान्यादिक) वनस्पति में, शराब (मद्य) आदि व्यसनों के सेवन से परस्त्री में, आहार सेवन से आयु एवं निद्रा में निरन्तर वृद्धि होती है।।४८।।

मयणाण कूरणा लोगा, हा हा रीयं सयलंमि लोयंमि।
अरहंत अरिट्ठनेमि, अहमं जियामि सुरणं।।४९।।

चलायमान इस संसार में म्रियमाण (मरने वाले) लोग हा-हा (हाय-हाय) करते हुए (समय-आयु) व्यतीत करते हैं। जबकि अरहंत अरिष्ट नेमि (२३वें तीर्थंकर) के ध्यान से जीव सुरगति प्राप्त कर सकते हैं।।४९।।

लोभाण मूल पावा, रस मूलाण बाहिन लयाऊँ।
रोगाण मूलत्थीया, तिनेव मुक्काण सुहं होइ।।५०।।

लोभ पापों की मूल (जड़) है, रसना व्याधियों का मूल है तथा अनेक रोगो का मूल स्त्री सेवन है, अत: इनसे मुक्त होने पर ही सुख प्राप्त होता है।।५०।।

जिण वयणे रइणा गराणं किर लसि जीयाणं।
निम्मलं होहं देहेण निम्मलायं, दुग्गई मग्गानि सुमेइ।।५१।।

जिन वचनों में रुचि करके जीव क्लेशों (दु:खों) से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है; क्योंकि मात्र देह (शरीर) द्वारा निर्मल होने से दुर्गम मार्ग (दुर्गति) से बचा नहीं जा सकता।।५१।।

धम्मेण वह जयइ, धम्मेण दुत्तरं नरभवं उहं।
धम्मेण मणंत सुहं, लहइ जीउ सासयं ट्ठाणं।।५२।।

धर्म के द्वारा ही जीत होती है, धर्म के द्वारा ही शीघ्र ही मनुष्य भव सफल होता है, धर्म के द्वारा अनन्त सुख प्राप्त होता है, धर्म से जीव शाश्वत-स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करता है।।५२।।

।। इति श्री संवेगचूड़ामणि प्रकरणं सम्पूर्णं ।।
लिख्यतं जेट्ठमल्ल त्रिकुतटपुर नगरे।

भण्डारकर शोध संस्थान पूना से प्राप्त हस्तलिखित (जीराक्स) प्रति की अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है—

इति श्री संवेगचूड़ामणि प्रकरण सम्पूर्ण। लिख्यंत तत सीषपुज लाल जी पंचानुज भुवाणीदास भीसराय प्रहलादपुर सहाय उपगारसां तत प्रकरण लिखन्ति विगतत्र संवत् १८५० वर्षे आषाढ़ मासे कृष्णपक्ष तिथि चौथ अयतवार (रविवार) लिखंत।

सुसंग्रहणीय अभिनव-प्रकाशन

१. **माध्यन्दिन-शतपथब्राह्मणम्** : इस अपूर्व वैदिक ग्रन्थ का प्रकाशन सायणाचार्य-कृत 'वेदार्थप्रकाश' संस्कृत-भाष्य एवं हिन्दी-भाषानुवाद के साथ किया गया है। हिन्दी-भाषानुवाद के साथ इसका सम्पादन प्रो. युगल किशोर मिश्र ने किया है। प्रथम भाग : ८००.००

२. **वैदिकशिक्षास्वरूपविमर्शः** : डॉ. राममूर्ति चतुर्वेदी द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ में वैदिक शिक्षा के स्वरूप का अनुसन्धानात्मक विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है। ३६०.००

३. **कातन्त्रव्याकरणम्** : आचार्य शर्ववर्मा द्वारा प्रणीत व्याकरणशास्त्र के इस ग्रन्थ का प्रकाशन चार टीकाओं के साथ हुआ है। उत्कृष्ट भूमिका तथा अनुसन्धानात्मक परिशिष्टों के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. जानकी प्रसाद द्विवेदी ने किया है।
भाग-१ : ३५०.०० भाग-२ खण्ड-१ : ५००.०० भाग-२ खण्ड-२ : ६००.००
भाग-३ खण्ड-१ : ४८०.०० भाग-३ खण्ड-२ : ५००.०० भाग-४ ८००.००

४. **लघुशब्देन्दुशेखरः (कारकप्रकरणम्)** : व्याकरणशास्त्र के इस महनीय ग्रन्थ का प्रकाशन पं. श्री भैरव मिश्र की 'भैरवी' संस्कृत-व्याख्या तथा डॉ. तेजपाल शर्मा की संस्कृतनिष्ठ हिन्दी-व्याख्या के साथ किया गया है। ४००.००

५. **वास्तुसारसङ्ग्रहः** : फलित ज्योतिष के इस अपूर्व ग्रन्थ का प्रकाशन आचार्य श्री कमलाकान्त शुक्ल की हिन्दी-व्याख्या के साथ किया गया है। २८०.००

६. **उपदेशसाहस्री** : श्री शङ्करभगवत्पादाचार्य-विरचित इस ग्रन्थ का प्रकाशन सरस्वतीभवन-पुस्तकालय की हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर किया गया है। इसके सम्पादक प्रो. रामकिशोर त्रिपाठी हैं। इसमें सम्पूर्ण उपनिषदों का सार संग्रहीत है। २८०.००

७. **दुर्गासप्तशती** : दुर्गासप्तशती के इस उत्कृष्ट संस्करण में प्राचीन एवं दुर्लभ सात संस्कृत-टीकाओं का संयोजन किया गया है। विशिष्ट भूमिका, हिन्दी अनुवाद एवं आवश्यक परिशिष्टादि के साथ इसका सम्पादन डॉ. गिरिजेश कुमार दीक्षित ने किया है। ८००.००

८. **प्रदीपकलिका** : श्री विश्वेश्वर पण्डित द्वारा विरचित इस ग्रन्थ का प्रकाशन हस्तलिखित पाण्डुलिपि के आधार पर किया गया है। इसमें धर्मशास्त्रीय विषयों का विस्तृत प्रतिपादन हुआ है। १८०.००

९. **मालिनीविजयोत्तरतन्त्रम्** : तन्त्रशास्त्र के इस मूर्द्धन्य ग्रन्थ का प्रकाशन डॉ. परमहंस मिश्र 'हंस' के 'नीर-क्षीर-विवेक' हिन्दी-भाषा-भाष्य के साथ उन्हीं के सम्पादकत्व में किया गया है। २४०.००

१०. **लोकमाता गङ्गा** : लोकमाता गङ्गा के अलौकिक एवं ऐतिहासिक स्वरूप के परिचायक इस महनीय ग्रन्थ का प्रणयन आचार्य श्री कुबेरनाथ शुक्ल जी ने किया है। इसमें गङ्गा जी से सम्बद्ध समग्र विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। २४०.००

११. **समीक्षासौरभम्** : प्रो. राजेन्द्र मिश्र द्वारा प्रणीत समीक्षात्मक एवं अनुसन्धानात्मक निबन्धों को सङ्कलित कर इस महनीय ग्रन्थ को प्रकाशित किया गया है। ३००.००

१२. **काव्यप्रकाशः** : साहित्यशास्त्र के प्राणभूत इस ग्रन्थ का प्रकाशन संस्कृत-भाषा में प्रणीत श्री गोविन्द ठाकुर की 'प्रदीप' व्याख्या तथा श्री नागोजी भट्ट की 'उद्द्योत' व्याख्या के साथ किया गया है। इसका सम्पादन साहित्य-शास्त्र के मनीषी विद्वान् आचार्य श्री शिवजी उपाध्याय ने किया है। ५८०.००

पत्रव्यवहारसङ्केत : निदेशक, प्रकाशन-संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१००२